सम्मेलन-पत्रिका

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की मुख-पत्रिका

चैत्र, वैशाख २०००

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

प्रयाग

सम्मेलन-पत्रिका : चैत्र, वैशाख २०००

संपादक—श्री रामचंद्र टंडन, साहित्य मंत्री

विषय-सूची

भाग ३० : : [illegible] —वैशाख—२०००

सम्मेलन-पत्रिका

भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रांतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या पर कुछ विचार[1]

[डा० धीरेन्द्र वर्मा]

जिस प्रकार हम लोगों को सदा यह बतलाया गया है कि भारत को स्वराज्य देना ही ब्रिटिश सरकार का चरम ध्येय है, उसी प्रकार भारतीय शिक्षा-संस्थाओं में अंग्रेजी के स्थान पर मातृभाषा को माध्यम बनाने के संबंध में भी आदर्श की दृष्टि से कभी विशेष मतभेद नहीं रहा है। किंतु दोनों ध्येयों की पूर्ति गत सवा सौ वर्ष के राजनीतिक तथा शिक्षा संबंधी विकास के उपरांत आज भी मृगतृष्णा मात्र ही दिखलाई पड़ती है। राजनीति के क्षेत्र में स्वाभाविक परिस्थिति न हो सकने के कारणों पर विचार करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। परंतु शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान अत्यंत अस्वाभाविक परिस्थिति को कैसे हटाया जावे और शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से स्वाभाविक परिस्थिति शीघ्र लाने के क्या उपाय हो सकते हैं, यही इस समय विचारणीय विषय हमारे सामने है।

अपने देश की शिक्षा-संस्थाओं में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम क्यों बनी व अपनी मातृभाषाओं को यह स्थान क्यों नहीं मिल सका, इसका मूल कारण हमारी राजनीतिक परतंत्रता ही को मानना पड़ेगा। हम लोगों ने राजनीतिक स्वतंत्रता को खोने के साथ साथ ज्ञानार्जन-संबंधी तथा अर्थ-संबंधी स्वतंत्रता भी खो दी। राजभाषा का असाधारण महत्त्व होना स्वाभाविक ही है। सच तो यह है कि जब तक विदेशी राज्य अपने देश में कायम है तब तक विदेशी शासकों की भाषा का महत्त्व कम नहीं हो सकता।

कभी कभी लोग इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि अपनी शिक्षा-संस्थाओं के

---

१. हिंदी विश्वविद्यालय परिषद् के प्रथम वार्षिक अधिवेशन में पठित।

प्रबंधकर्ता तथा अध्यापक वर्ग लगभग शत प्रतिशत भारतीय हैं। अपने प्रांत के इंटर-मीडियट बोर्ड में कदाचित् सभापति को छोड़ कर कोई भी अंग्रेज नहीं है। प्रांतीय सरकारी विश्वविद्यालयों में अध्यापकगण, कार्यसमिति आदि के सदस्यों की बात तो क्या, वाइस-चांसलर तक हिंदुस्तानी हैं। हिंदू यूनिवर्सिटी जैसी संस्थाएँ लगभग राष्ट्रीय संस्थाएँ समझी जाती हैं। ऐसा होते हुए भी बिना किसी अंग्रेज की उपस्थिति के हम लोग जहाँ किसी सभा समिति के रूप में एकत्रित हुए कि यकायक अंग्रेजी बोलने लगते हैं। क्लास रूम के बाहर भले ही प्रोफेसर साहब अपने विद्यार्थी से दो बातें अपनी मातृभाषा में कर लें, किंतु क्लास के अंदर पैर रखते ही, चाहे वहाँ केवल अपना सगा भाई ही श्रोता के रूप में सामने उपस्थित क्यों न हो, धाराप्रवाह अंग्रेजी में भारतीय आर्थिक समस्या, प्राचीन भारत के इतिहास, देश के राजनीतिक पतन आदि विषयों पर व्याख्यान देना हर तरह धर्म हो जाता है। यह क्यों? एक भारतीय के शिक्षा-सचिव अथवा एडुकेशनल एडवाइजर होने पर भी शिक्षा के माध्यम के संबंध में यह आवश्यक सुधार क्यों नहीं हो पा रहा है? इंटरमीडियट बोर्ड में लगभग समस्त सदस्य हिंदुस्तानी हैं, किंतु अपने बच्चों और भाइयों के शिक्षा के संबंध में विचार करते समय उनकी मनोवृत्ति एक अंग्रेज की मनोवृत्ति से मिलती-जुलती क्यों हो जाती है? मालवीय जी की हिंदू यूनिवर्सिटी तक में यह आवश्यक सुधार क्यों नहीं हो पाया है? नेशनल कांग्रेस के हाथ में अधिकांश प्रांतों की बागडोर आ जाने पर भी पहले ही दिन इस आवश्यक सुधार की घोषणा क्यों नहीं की जा सकी?

जब तक अपने देश में विदेशी राज्य किसी न किसी रूप में चल रहा है, और उसके उपरांत भी जब तक इस राज्य द्वारा शिक्षित हम भारतीयों की पीढ़ियाँ चलेंगी, तब तक देश के जीवन में विशुद्ध भारतीयता को स्थानापन्न कराना संभव नहीं प्रतीत होता। तो भी परिस्थिति में शीघ्रता से परिवर्तन उपस्थित करने के लिये व्यवहार-क्षेत्र में यदि संभव नहीं है तो कम से कम विचारों के क्षेत्र में आन्दोलन करना निष्फल नहीं होगा।

विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी के स्थान पर आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के संबंध में सबसे पहली कठिनाई यह बताई जाती है कि भारतीय भाषाओं में भिन्न-भिन्न विषयों से संबंध रखने वाली पुस्तकों का अभाव है। जब यह कहा जाता है कि यदि ऐसा है तो इस प्रकार की साहित्य-रचना का प्रयत्न गवर्नमेंट विश्वविद्यालयों तथा साहित्यिक संस्थाओं को करना चाहिये, तब यह तर्क दिखाया जाता कि इस प्रकार की पुस्तकों में विशेष पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता होगी और आधुनिक ज्ञान तथा विज्ञान से संबंध रखने वाले पारिभाषिक शब्दों के अभाव में इस

प्रकार के साहित्य की रचना संभव नहीं। इसके उत्तर में जब यह समाधान उपस्थित किया जाता है कि तब पारिभाषिक शब्दकोष बनाने का कार्य ही पहले हाथ में ले लिया जावे, तब यह दलील पेश की जाती है कि यह काम विशेषतया हिंदी प्रदेश में इतना सरल नहीं है। इस प्रदेश के लिये यह सिद्धांत तय करना पड़ेगा कि पारिभाषिक शब्दों का मूलाधार संस्कृत हो, अरबी हो या दोनों की खिचड़ी, और बाजारू शब्दों की मदद से हिंदुस्तानी भाषा में परिभाषाएँ गढ़ी जावें, या ऊपर की समस्त उलझनों से बचने के लिये अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों को ही ज्यों का त्यों ले लिया जावे, और उर्दू या हिंदुस्तानी के वज़न पर एक नवीन शैली इंगलिस्तानी की नीव डाल दी जावे। इन समस्त कठिनाइयों को पेश करके यह समस्या जहाँ की तहाँ छोड़ दी जाती है, क्योंकि इसके सुलझाने की वास्तविक इच्छा किसी को भी नहीं है।

मेरी धारणा तो ऐसी है कि यदि विश्वविद्यालयों के संचालक इस निश्चय की घोषणा कर दें कि अमुक वर्ष से विद्यार्थियों की पढ़ाई प्रांतीय भाषाओं में होगी, तो उत्साही प्रकाशकों और टैक्स्ट-बुक लेखकों के अध्यवसाय के फलस्वरूप बी० ए० तक की पाठ्यपुस्तकों के भारतीय भाषाओं में रूपांतर दो साल के अंदर ही प्रकाशित हो जावेंगे। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न विषयों के अध्यापक दो वर्ष में अपने क्लास लेक्चरों के हिंदी, उर्दू, बँगला, मराठी आदि रूपांतर आसानी से तैयार कर सकते हैं। इन पुस्तकों की रचना के साथ-साथ पारिभाषिक शब्द आप ही गढ़ते जावेंगे, आगे चलकर इनकी काट-छाँट हो सकती है। यह हो सकता है कि संधिकाल में हिंदी आदि के पारिभाषिक शब्दों के साथ, पुस्तकों में तथा व्याख्यानों में अंग्रेजी का शब्द भी दे दिया जावे। अपने शब्दों के हो जाने पर अंग्रेजी के शब्द हटाये जा सकते हैं।

पारिभाषिक शब्दों की रचना के सिद्धांत की समस्या भी इतनी जटिल नहीं है जैसी समझी जाती है। हिंदी, उर्दू तथा संस्कृत अरबी का झगड़ा विशेषतया पश्चिमी हिंदी प्रदेश तक सीमित है। यह कठिनाई बंगाली, मराठी, गुजराती, आन्ध्र, तामिल आदि भाषाओं की शैली तथा शब्द-समूह के संबंध में नहीं है। भारतवर्ष की लगभग एक दर्जन साहित्यिक भाषाओं में ११ भाषाएँ शब्द-भंडार की दृष्टि से संस्कृत को मूल भाषा मानती हैं और इन ११ में हिंदी भी शामिल है। यदि कोई अपवाद है तो वह उर्दू है। उर्दू भाषा पारिभाषिक शब्दों के लिये अरबी की तरफ आँख उठाती है। उचित तो यह था कि इस एक भाषा को अन्य ११ भाषाओं का साथ देना चाहिये, किंतु यदि यह संभव नहीं हो सके तो ११ भाषाएँ अपना एक रास्ता बना लें और यह एक भारतीय भाषा अपने निराले रास्ते पर कायम रहे। मुझे व्यक्तिगत रूप से इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। किंतु हिंदी के संबंध में मेरे हृदय में किसी भी प्रकार की

द्विविधा नहीं है। उसे शेष १० भारतीय भाषाओं के साथ परम्परागत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के हज़ारों वर्ष पुराने संबंध को नहीं तोड़ना चाहिये।

व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि फिर हिंदी प्रदेश की यूनिवर्सिटी कक्षाओं में पढ़ाई हिंदी उर्दू में से किस भाषा में और पारिभाषिक शब्दों में से संस्कृत या अरबी में से किनकी सहायता से होगी। हिंदुस्तानी या अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के स्थायी रूप चल सकने की संभावना विशेष नहीं दिखलाई पड़ती। मेरी समझ में इस समस्या को सुलझाने के दो उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि हिंदी प्रदेश में एक या दो विश्वविद्यालय उर्दू के माध्यम से शिक्षा दें और शेष में प्रादेशिक भाषा हिंदी के माध्यम से शिक्षा दी जावे। दूसरा अस्थायी उपाय यह हो सकता है कि प्रत्येक अध्यापक को उर्दू या हिंदी पारिभाषिक शब्दों को प्रयुक्त करने की स्वतंत्रता दे दी जावे, किंतु साथ में अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग भी वह कर दें, जिससे दूसरी भाषा जानने वाले विद्यार्थी अपनी भाषा के पारिभाषिक शब्द का स्मरण कर सकें। टेक्स्ट बुक्स में भी इस उपाय का अवलम्बन हो सकता है।

वास्तविकता यह है कि आवश्यकता एक बार निश्चय कर लेने की है, उसके बाद मार्ग निकलने में कठिनाई नहीं पड़ेगी। यदि पंचवर्षीय योजनाओं की सहायता से जर्मनी, रूस आदि अनेक देशों में समस्त राष्ट्रीय जीवन में पलट की जा सकी, तो क्या हम लोग ४, ५ वर्ष में केवल शिक्षा-संबंधी गुत्थियों को नहीं सुलझा सकते? किंतु मूल प्रश्न तो यह है कि क्या हम सचमुच सुलझाना भी चाहते हैं?

पुस्तकों तथा परीक्षाओं में दो लिपियों की समस्या भी इसी तरह सुलझाई जा सकती है। यदि हिंदी और उर्दू माध्यम वाले विश्वविद्यालय अलग हुए तब तो कोई कठिनाई ही नहीं होगी; किंतु यदि प्रत्येक विश्वविद्यालय में दोनों का प्रबंध करना पड़ा तब भी अधिक से अधिक प्रत्येक प्रश्नपत्र में दो परीक्षक रखने पड़ सकते हैं। इससे अधिक और कोई विशे[illegible]य नहीं होगा।

इस परिवर्तन का स्वागत न करने वालों में हिंदी प्रदेश के विश्वविद्यालयों के ऐसे अध्यापकों का वर्ग हो सकता है जिनकी मातृभाषा हिंदी या उर्दू नहीं है, जो अन्य प्रांतीय भाषाओं के बोलने वाले हैं। स्वार्थ की दृष्टि से इस सुधार में उन्हें थोड़ी सी कठिनाई दिखलाई पड़ सकती है। इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिये कि भविष्य में हिंदी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में बहुत बड़ी संख्या में अन्य प्रान्तों के नये अध्यापकों के आने की अब संभावना नहीं है। रही उन लोगों की बात जो आ चुके हैं और अपना पूरा या आधा जीवन या कदाचित् कई पीढ़ियाँ मध्यदेश में बिता चुके हैं। मेरी समझ में इन्हें भाषा-संबंधी विशेष कठिनाई नहीं पड़ सकती है। बोलचाल की हिंदी या उर्दू से

परिचित हैं ही। पारिभाषिक शब्दों के संबंध में किसी भी बंगाली, मराठी, गुजराती या अन्य विद्वान् के लिये हिंदी में प्रयुक्त संस्कृत उद्गम के पारिभाषिक शब्द कोई विशेष कठिनाई नहीं उपस्थित कर सकते। साधारण हिंदी भाषी से इन अन्य प्रान्तों के विद्वानों की कठिनाई विशेष समझना वास्तव में भ्रममात्र है।

मेरी समझ में यदि इच्छा हो तो अपने प्रान्त के विश्वविद्यालयों में प्रांतीय भाषा को शिक्षा का माध्यम दो वर्ष में बनाया जा सकता है, किंतु इसके लिए निम्नलिखित उपायों की आवश्यकता होगी।

१. विश्वविद्यालयों के द्वारा इस बात का निश्चय तथा घोषणा कि अमुक वर्ष से, उदाहरणार्थ जुलाई १९४९ से, शिक्षा का माध्यम प्रांतीय भाषा हो जावेगा।

२. एक कमेटी द्वारा हिंदी या उर्दू में उपलब्ध ऐसे समस्त उपयोगी साहित्य की जाँच जिसकी आवश्यकता विश्वविद्यालयों को हो सकती है। विशेष इस कार्य को तीन महीने में कर सकते हैं और साथ ही इस बात का निर्देश भी कर सकते हैं कि अमुक-अमुक विषयों पर साहित्य-रचना की आवश्यकता है। ऐसे विषयों पर पुस्तकें लिखवाने तथा प्रकाशित कराने की ओर वे प्रकाशकों का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, अधिकांश ऐसे विषयों पर पुस्तकें प्रकाशकों के द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो जावेंगी।

३. एक या अधिक अनुवाद का कार्य करने वाले मंडलों की स्थापना कर अत्यंत आवश्यक अंग्रेजी या अन्य यूरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों का अनुवाद हिंदी या उर्दू में कर डालें। आवश्यक अनुवाद एक वर्ष में तैयार हो सकते हैं और दूसरे वर्ष के अंत में पहले ही वे छप कर प्रकाशित किए जा सकते हैं। इस कार्य में विश्वविद्यालय अन्य साहित्यिक संस्थाओं, जैसे नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदुस्तानी एकेडेमी, भारतीय हिंदी परिषद्, आदि का सहयोग ले सकते हैं। ये ही बोर्ड आवश्यक कोष तथा अन्य सहायक ग्रंथ आदि भी तैयार कर सकते हैं।

इस कार्य में यदि विश्वविद्यालय अपनी समस्त शक्ति लगा दें तो कार्य बिलकुल भी कठिन नहीं है। उदाहरण के लिये, प्रयाग विश्वविद्यालय में १५० अपने अपने विषयों के विशेषज्ञ अध्यापक हैं और दर्जनों रिसर्च स्कालर हैं। यदि दो वर्ष के लिये यह सामूहिक शक्ति बी० ए० और एम० ए० तक की पढ़ाई की आवश्यक हिंदी पुस्तकें तैयार करने में लग जावे तब क्या इस काम में कुछ भी विलम्ब हो सकता है?

अंत में मैं फिर यही कहूँगा कि वास्तव में यह समस्या बिलकुल भी कठिन नहीं है। सच यह है कि हम ही लोग अभी इस परिवर्तन को करने के लिये अपना दिल पोढ़ा नहीं कर पाए हैं। इस मनोवृत्ति के मूल में हमारी शिक्षा, हमारा आलस्य और हमारा क्षणिक स्वार्थ है।

इस असाधारण परिस्थिति के कदाचित् अनेक कारण बतलाये जावेंगे, किंतु मेरी समझ में तो इसका मूल कारण एक है। भारत में कुछ लोग नसल की दृष्टि से ऐंग्लो इण्डियन हैं, किंतु लोग भूल जाते हैं कि उनसे कहीं अधिक संख्या में अपने यहाँ विचारों की दृष्टि से ऐंग्लो इण्डियन वर्ग है। मेरा तात्पर्य अंग्रेज़ी पढ़े, अपने को शिक्षित समझने वाले भारतीयों से है, जो शरीर से तो भारतीय अवश्य हैं, किंतु विदेशी शिक्षा के फल-स्वरूप उनके मस्तिष्क अंग्रेज़ी लिपि, भाषा, साहित्य, राजनीतिक व सामाजिक आदर्शों आदि से इतने प्रभावित हो गए हैं, उस ढाँचे में ऐसे ढल गए हैं कि इनको स्वदेशी वस्तुओं, संस्थाओं तथा आदर्शों की ओर झुका सकना एक दो पीढ़ी तक संभव नहीं प्रतीत होता। शिक्षा से ही मनुष्य बनता है। हमने जैसी शिक्षा पाई वैसे ही हम बन गए हैं।

द्विवेदी युग और उसका निर्माता[1]

[श्रीरामचन्द्र टंडन]

(१)

आज चार साल हुए कि हिंदी साहित्य ने अपना एक महारथी खो दिया। यह सही है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का काम उनकी मृत्यु से एक पीढ़ी पहले समाप्त हो चुका था, फिर भी भारतेंदु हरिश्चन्द्र के बाद कोई भी ऐसा लेखक नहीं बताया जा सकता जिसने हिंदी पर, विविधि दिशाओं में, इतना असर डाला हो। लगभग २० वर्ष तक, जिस बीच उनका 'सरस्वती' पत्रिका से घना संबंध रहा, हिंदी संसार उनका लोहा मानता रहा। अपने अंतिम दिनों में भी हिंदी साहित्य की उन्नति में वह दिलचस्पी लेते थे और साहित्य सृजन की जो नींव उन्होंने डाली थी, उस पर एक विशाल भवन खड़ा होते देख कर, उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। आचार्य द्विवेदी आधुनिक हिंदी के निर्माताओं में एक गौरव का स्थान रखते थे। आज का शायद ही कोई वयस्क लेखक ऐसा हो जिसने किसी-किसी समय आचार्य द्विवेदी से प्रभाव न ग्रहण किया हो।

यों तो हर एक युग में किसी भी भाषा में अनेक लेखक होते हैं, लेकिन ऐसा लेखक बिरला होता है जो अपने युग को अपना नाम दे सके। आचार्य द्विवेदी इन बिरले

---

[1] यह लेख आल इंडिया रेडिओ, दिल्ली से २० दिसंबर, १९४२ को पढ़ा गया था और रेडिओ विभाग के अनुग्रह से प्रकाशित हो रहा है।

लोगों में ही थे। मोटे ढंग से हम इस सदी के पहले पचीस वर्ष को द्विवेदी युग मान सकते हैं। क्या कविता क्षेत्र में और क्या गद्य में, क्या विषय और शैली की दृष्टि से और क्या छंद और भाषा को लेकर, इस बीच में जो प्रयोग हुए हैं उन्होंने हमारे साहित्य को बहुत आगे बढ़ाया है। साहित्य के विकास का रास्ता सहज नहीं रहा है। इस पथ पर साहस के साथ आगे बढ़ने का और दूसरों को आगे बढ़ाने का श्रेय किसी भी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा आचार्य द्विवेदी को अधिक है।

(२)

द्विवेदी जी का जन्म रायबरेली (अवध) के दौलतपुर नाम के, गंगातट पर बसे हुए, गाँव में सन् १८६४ में हुआ था। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि उनके जन्म के आधे घंटे के भीतर किसी ज्योतिषी ने, जो वहाँ पर मौजूद था, इनकी जीभ पर सरस्वती का बीज मंत्र लिख दिया। यह संस्कार एक आशीर्वाद बन गया। क्योंकि यह कहा जा सकता है कि सरस्वती ने उन पर विशेष रूप से कृपा की।

अपने प्रारंभिक जीवन के बारे में उन्होंने बड़ी सरलता से यह लिखा था:—

"मैं एक ऐसे देहाती का आत्मज हूँ जिसका मासिक वेतन १० रु० था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी सी उर्दू और घर पर थोड़ी संस्कृत पढ़ कर १३ वर्ष की उम्र में मैं ३६ मील दूर रायबरेली के जिला स्कूल में अंग्रेजी पढ़ने गया। आटा दाल घर से पीठ पर लाद के ले जाता था। दो आने महीना फ़ीस देता। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका कर पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था......एक वर्ष किसी तरह वहाँ कटा। फिर पुरवा, फ़तेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में ४ वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं उससे आगे नहीं पढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा यहीं ख़त्म हो गई।"

उन दिनों किसी देहाती बालक के लिये अंग्रेज़ी शिक्षा हासिल करने की इच्छा रखना एक हौसले की बात थी। और जिस मिहनत से, कठिनाइयों का सामना करते हुए, द्विवेदी जी ने इसके लिये कोशिश की वह सराहनीय थी। जिस समय उनकी स्कूली शिक्षा का यह सिलसिला टूटा, द्विवेदी जी की उम्र सिर्फ १७ साल की थी।

(३)

इसके बाद के २२ साल द्विवेदी जी ने नौकरी में काटे। जिनमें से २० साल जी० आई० पी० रेलवे की नौकरी के थे। यह तार-विभाग में एक छोटे से पद से अफ़सरों के दर्जे तक पहुँचे थे। इस बीच, अवकाश के समय, वह अंग्रेजी का अभ्यास बढ़ाते रहे, और गुजराती, मराठी, और बँगला भाषा और साहित्य से भी अच्छी तरह परिचित हो गए। वह शिक्षा जो इन्होंने अपने आप को दी, स्कूली तालीम के मुक़ाबले

में कहीं ज्यादः मूल्यवान थी। सन् १९०३ में ४० वर्ष की उम्र में जब आचार्य द्विवेदी हिंदी साहित्य-सेवा में रमे तब वह कोई नौसिखिए न थे। उनकी कल्पना ऊँची थी। मराठी, गुजराती, और बँगला भाषाओं की जानकारी उनके काम में बहुत सहायक हुई। इन भाषाओं के साहित्य की प्रगति जानते हुए उनकी इच्छा हुई कि हिंदी इनमें से किसी से भी पीछे न रहे। बल्कि सबसे आगे निकल जाय। वह केवल स्वप्न नहीं देख रहे थे। पहले से ही वह उस समय की प्रमुख पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखने लगे थे। विशेषकर 'हिन्दोस्तान', 'भारतमित्र', 'हिंदी बंगवासी', 'रसिक-वाटिका' और 'सरस्वती' में। इनकी कुछ संस्कृत रचनाएँ भी 'संकृतचंद्रिका' में निकलती थीं।

(४)

वह २० वर्ष जिनमें आचार्य द्विवेदी का 'सरस्वती' के संपादक की हैसियत से संबंध रहा, आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में यादगार रहेंगे। यह पत्रिका दूसरी सामयिक पत्रिकाओं के लिये आदर्श रही। अनेक हिंदी के लेखकों की यह सबसे बड़ी लालसा रहती थी कि उनके लेख इस पत्रिका के पृष्ठों में जगह पा सकें। आचार्य द्विवेदी सरस्वती को न केवल हिंदी की सब से प्रतिष्ठित पत्रिका बनाना चाहते थे, बल्कि और भारतीय भाषाओं की सम्मानित पत्रिकाओं में उसे उचित स्थान दिलाना चाहते थे। जहाँ तक भाषा का सवाल था, वह चाहते थे, कि हिन्दी गद्य ऐसा बन जाय कि वह आधुनिक विचारों को जनता तक सुगमता से पहुँचा सके। यह कहना अनुचित न होगा कि हिंदी-भाषी जनता को अच्छी कोटि की साधारण शिक्षा दे सकने के उद्देश्य को 'सरस्वती' ने अपनाया, और काल और परिस्थितियों को देखते हुए यह कहा जायगा कि इस प्रकार की शिक्षा प्रस्तुत करने में जैसी यह पत्रिका समर्थ हुई वैसे दूसरे कोई साधन न हुए। संपादक के रूप में आचार्य द्विवेदी ने कुछ सिद्धान्त बना लिए थे और इनसे वह टलते न थे। उनकी सफलता का रहस्य इस बात में छिपा हुआ है कि न केवल वह यह जानते थे कि उनसे पाठक क्या चाहते हैं, बल्कि वह यह भी जानते थे कि पाठकों के लिये क्या सचमुच हितकर होगा।

आचार्य द्विवेदी की सेवाओं में एक मूल्यवान सेवा यह रही है कि उन्होंने लेखकों का एक दल उत्पन्न किया। कितनों को लिखना सिखाया या लिखने के लिये उत्साह दिलाया। उन्होंने यह अनुभव किया कि हिंदी में नए विचार उन्हीं लोगों के उद्योग से आ सकते हैं जिन्होंने ऊँची शिक्षा हासिल की हो। इस शिक्षा का अब भी ज़्यादातर माध्यम अंग्रेज़ी है, और उस समय तो विशेष रूप से वही था। आचार्य द्विवेदी ने यह भी देखा कि ऊँची शिक्षा पाए हुए हिंदुस्तानी हिंदी के प्रति अधिकांश उदासीन रहते हैं। उन्होंने पढ़े-लिखों की रुचि हिंदी की ओर फेरने की कोशिश की;

उनके लेखों को बहुत कुछ सुधार कर वह उन्हें निजी तौर पर भी उत्साह दिलाते थे। उन्हें बराबर सलाह देते, और पत्र-व्यवहार द्वारा उनसे संपर्क बनाए रहते।

(५)

द्विवेदी जी ने अपने संपादकीय कर्तव्य को इतनी लगन से निबाहा कि उन्हें रचनात्मक साहित्यिक काम के लिये ज़्यादा मौक़ा न मिला। फिर भी गद्य और पद्य दोनों में ही उन्होंने जो पुस्तकें छपाईं, यह देखते हुए कि वह आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य की बहुत शुरू की चीज़ें हैं, ऊँचे दर्जे की हैं। द्विवेदी जी की शुरू की कविताएँ पुरानी परंपरा और शैली के अनुसार ब्रजभाषा में हैं। कुछ संस्कृत में भी हैं। लेकिन जल्द ही उन्होंने इस बात का अनुभव कर लिया कि गद्य और पद्य की भाषाएँ अलग-अलग रास्तों पर नहीं चल सकतीं। और अगर हिंदी को दौड़ में पिछड़ना नहीं है, तो उसे पद्य की भाषा को ब्रजभाषा से बदल कर खड़ी बोली करना होगा। एक बार यह विश्वास उनके मन में जम गया, फिर तो आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी पूरी ताक़त से खड़ीबोली की कविता का समर्थन किया। 'सरस्वती' में प्रायः खड़ीबोली की कविताओं को ही जगह मिलती। 'सरस्वती' की इस नीति का उस समय घोर विरोध भी हुआ था। 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली' का विवाद वर्षों तक चला है। अंत में द्विवेदी जी का ही पक्ष जीता, जो कि स्वाभाविक था। आज भी इने-गिने ब्रजभाषा के समर्थक मिलेंगे। लेकिन खड़ीबोली की प्रधानता को अब किसी तरह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

द्विवेदी जी के जीवन-काल में उनकी कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए। 'काव्यमंजूषा' और 'सुमन'। उनकी कुछ कविताएँ अन्य और कवियों की रचनाओं के साथ 'कविता-कलाप' में भी संग्रहीत हुई हैं। अब उनकी कविताओं का एक बड़ा संग्रह भी निकल गया है। हमें यह न भूलना चाहिये कि यह कविताएँ वास्तव में प्रयोगात्मक हैं। खड़ीबोली सुथरी नहीं बन पड़ी है। बीच-बीच में ब्रजभाषा का रूप रखने वाले शब्द आ गए हैं। फिर भी यह कविताएँ इतनी सफल ज़रूर हैं कि औरों के लिये, जिन के पास कविता के अभ्यास के लिये अधिक समय था, मार्ग प्रदर्शन कर सकें। नतीजा यह हुआ कि अनेक हिंदी कवि खड़ीबोली में कविताएँ रचने लगे। 'कुमारसंभवसार' में आचार्य द्विवेदी ने कालिदास के इसी नाम के महाकाव्य के पाँच सर्गों का सार पेश किया है। इसमें उनकी खड़ीबोली में विशेष प्रवाह है। द्विवेदी-युग की कविता के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी के प्रयास का मूल्य इस बात में है कि उन्होंने खड़ीबोली कविता को प्रचार दिया और उसके हामी बने। हम लोग उन कवियों के नामों से खूब परिचित हैं जिन्होंने खड़ीबोली कविता के विकास में मदद दी। यह कहना अनुचित न होगा कि इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिन्होंने सब से पहले अपनी प्रेरणा द्विवेदी जी द्वारा ही प्राप्त की थी।

(६)

द्विवेदी जी ने गद्य में जो ग्रन्थ निकाले उनमें से ज़्यादातर या तो अनुवाद हैं या दूसरी भाषाओं की पुस्तकों का सहारा लेकर लिखे गए हैं। मिल की 'लिबर्टी', स्पेंसर के 'एड्यूकेशन' तथा बेकन के निबंधों के सफल अनुवाद उन्होंने 'स्वधीनता', 'शिक्षा' और 'बेकन विचार-रत्नावली' नामों से निकाले। उनका 'संपत्तिशास्त्र', जो आधुनिक अर्थशास्त्र का विषय लेकर लिखा गया है और एक अंग्रेजी ग्रन्थ के आधार पर लिखी हुई रचना है, अपने विषय पर हिंदी में पहली पुस्तक है। उनका लिखा हुआ महाभारत एक बँगला ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत हुआ है, और इसका प्रचार अच्छा हुआ है। उनकी और पुस्तकों में कालिदास के 'रघुवंश' का गद्यानुवाद, 'चरित्र-चित्रण', 'भामिनीविलास' का भाषानुवाद, 'नैषधचरितचर्चा', 'कालिदास की निरंकुशता', 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति' आदि हैं। इनके अलावा ऐसे और कई संग्रह-ग्रन्थ छपे हैं जिनमें कि द्विवेदी जी के 'सरस्वती' में समय-समय पर छपे हुए लेख इकट्ठा किये गए हैं। 'विचार-विमर्श', 'संकलन', 'प्राचीन पंडित कवि', 'अद्भुत आलाप', 'साहित्य संदर्भ', 'आध्यात्मिकी', 'प्राचीन चिह्न', 'समालोचना-समुच्चय', 'साहित्य-सीकर' के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

उनके प्रिय विषय संस्कृत साहित्य और भारतीय पुरातत्त्व थे। लेकिन समालोचक के रूप में उनका जो कार्य है उसे हम सबसे अधिक याद रक्खेंगे। आचार्य द्विवेदी ने अपने समय में आलोचना की शैली को एक नया रूप दिया। इसे उन्होंने रूढ़ियों और परंपरा के गड्ढे से निकाला। यह सच है कि द्विवेदी जी आप ही सदा पुराने प्रभावों से नहीं बच सके हैं। फिर भी समालोचना के क्षेत्र में उन्होंने नया मार्ग दिखाया और जिस रास्ते पर उसे उन्होंने चलाया उस रास्ते पर वह प्रायः अब भी चल रही है।

अगर हम आचार्य द्विवेदी को एक शैलीकार की दृष्टि से देखते हैं तो हम उन्हें ऊँचे आसन का अधिकारी पाते हैं। वह शब्दाडंबर से घृणा करते थे। भाषा के विषय में वह विशुद्धता के हामी न थे। वह निरंतर उसे सरल बनाने की कोशिश में रहे, जिससे वह ज़्यादा से ज़्यादा लोगों की समझ में आ सके। अगर उनकी शैली में कोई विषमताएँ मिलेंगी तो उसका कारण यह है कि उन्होंने अनेक विषय पर लेखनी चलाई है, और विषयों के साथ ही भाषा की शैली थोड़ी बहुत बदलेगी। लेकिन जान-बूझ कर उन्होंने अपनी भाषा को क्लिष्ट बनाया, ऐसा उनके संबंध में नहीं कहा जा सकता। उनकी शैली की नकल करने वाले बहुत उपजे और यह कहना ग़लत न होगा कि किसी न किसी अंश में उसका द्विवेदी-युग के सभी लेखकों पर असर पड़ा।

द्विवेदी जी सीधे-सादे हिंदू गृहस्थ और सच्चे ब्राह्मण थे। उनका आजन्म विद्या-प्रेम, उनकी अत्यंत विनम्रता, उनका संतोष—यह ऐसे गुण हैं जिनकी तारीफ़

करना उचित ही है।

स्वभाव के वह बड़े सरल थे। यह ठीक है कि तीखी आलोचना करने में कभी भी न हिचकते, लेकिन अपने मन में तनिक भी मैल न रखते। वह एक हद तक विनोदी भी थे। लोभ उन्हें छू नहीं गया था। अपनी कमाई का बहुत सा धन उन्होंने हिंदू यूनिवर्सिटी को दान कर दिया था। अपना बड़ा पुस्तकालय उन्होंने काशी की नागरी प्रचारिणी सभा को दे दिया था। साथ ही उन्होंने अपने बहुत से काग़ज़-पत्र भी सभा को प्रदान किए थे। प्रतिष्ठा के भूखे वह कभी नहीं थे। कई यूनिवर्सिटियों की ओर से उन्हें डाक्टर की उपाधि प्रदान करने की चर्चा उठी, लेकिन वह इसके प्रति विरक्त रहे। हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सभापति बना कर उनका सम्मान करना चाहा। परंतु उन्होंने अपनी मजबूरी पेश कर दी। हिंदुस्तानी एकेडेमी का फेलोशिप भी उन्होंने न चाहा। केवल नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्होंने अपनी ७०वें जन्म-गाँठ के अवसर पर सन् १९३३ में एक अभिनंदन ग्रन्थ स्वीकार किया। उसी वर्ष इलाहाबाद में उनके नाम पर एक साहित्यिक मेला हुआ, जो कि अपने ढंग का पहला जलसा था। इलाहाबाद से जो उनका घनिष्ठ संबंध रहता था उसे देखते हुए उन्होंने अपने जीवन के संध्याकाल में इस मेले में शरीक होना स्वीकार किया था।

हिंदी साहित्य के इतिहास में उनका नाम उसके निर्माताओं के रूप में अमिट रहेगा।

राष्ट्र-निर्माण में हिन्दी का हाथ

[श्री औटमी चौफीन बी० ए०]
[शंभुप्रसाद बहुगुना, एम० ए०]

साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी चाहे किसी सीमित क्षेत्र की ही भाषा का नाम हो, किन्तु व्यवहार से वह अति प्राचीन काल से ही भारत के जीवन को एकता के सूत्र में ग्रथित करने वाली भाषा रही है। आठवीं शताब्दी के सिद्धों की भाषा केवल विहार, आसाम और बंगाल तथा नैपाल की तराई की ही भाषा नहीं थी, वरन् उसका प्रचार सुदूर सिंहलद्वीप तक भी हो चला था। योगियों के सिंहल जाने की कथा प्रतीक-मात्र नहीं हो सकती। हमारे पहाड़ी जिलों (गढ़वाल, अल्मोड़ा और नैनीताल) में इन सिद्धों की परंपरा अति प्राचीन काल से मान्य है और वहाँ इनका प्रचार आज से नहीं, १०वीं ११वीं शताब्दी से है। नवीं शताब्दी के आचार्य चिह्नोद्योतन की कुवलय-कथा की भाषा में आए हुए हिन्दी के शब्द उस समय की बोल-चाल की भाषा के हैं। दुर्जविन

शहरयार के लिखे 'सफरनामा' में सन् ८७० के लगभग बहुत भाषाओं के विद्वान् अब-दुल्ला ऐराकी द्वारा क़ुरान का हिन्दी अनुवाद किए जाने का उल्लेख है। क्या इससे यह नहीं प्रकट होता कि हिन्दी उस समय प्रचलित बोलचाल की भाषा रही होगी? कालिंजरा के राजा नंद ने सुलतान महमूद के यहाँ एक दूत एक हिन्दी कविता सहित भेजा था। उस कविता की खूब प्रशंसा हुई थी, जिससे स्पष्ट है कि महमूद के दरबारी भी हिन्दी भली भाँति समझते थे। बारहवीं शताब्दी में वामदेव, तेरहवीं में ज्ञानेश्वर तथा उनकी बहन मुक्ताबाई पश्चिमी भारत अथवा महाराष्ट्र में हिन्दी-कविता कर रही थीं। तेरहवीं शताब्दी में मसऊद साद सलमा ने हिन्दी में एक दीवान लिखा था। इसके पश्चात् तो हिन्दी-साहित्य की परंपरा बराबर चलती ही रही। जब साहित्य में हिन्दी का स्थान था तो यह निश्चय है कि हिन्दी उस समय सर्वसाधारण के आदान-प्रदान की भाषा अवश्य रही होगी। जनसाधारण की भाषा होने के कारण ही मध्य-युग में संतों को इसे अपनाने में सुविधा रही और जब धारा प्रबल हो चली तो संस्कृत के हामी पंडितों को भी (जिनमें केशवदास प्रधान थे) बाध्य होकर हिन्दी में ही रचना करनी पड़ी। १८वीं शताब्दी में अंग्रेज पादरियों को हिन्दी में बाइबिल अनुवाद करने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि वह उस समय बोलचाल की, सर्व-साधारण की, भाषा थी। आज हिन्दी का प्रवाह इस वेग से बह रहा है कि उसकी उन्नति तथा प्रसार की गति को देख कर चकित रह जाना पड़ता है। साहित्य की कोई भी ऐसी बारीकियाँ नहीं, जीवन की कोई भी विचारधाराएँ ऐसी नहीं, जिन्हें हिंदी आज अपने ढंग से व्यक्त करने में समर्थ न हो। जिस हिंदी की इतनी शक्ति-संपन्न, सप्राण तथा साहित्यमय धारा हो, क्या वह राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती? क्या उसकी शक्ति जीवन को दीप्त करने वाली नहीं है? क्या उसका संपन्न साहित्य भारतीय संस्कृति का गौरव-पूर्ण अंग नहीं है? यदि है, तो उसका विरोध क्यों?

राष्ट्र की सभी विचारधाराओं पर हिंदी का प्रभाव पड़ा है। वीरगाथा-काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल पर हिंदी साहित्य का प्रभाव उन युगों की प्रत्येक विचारधारा में विद्यमान मिलेगा। साहित्य-निर्माण देश, काल और वातावरण से अलग रहकर कभी नहीं होता। वीरगाथा-काल ही में प्रायः मुसलमानों का पहले-पहल भारत में आना हुआ और इनके पैर राजनीतिक लूटपाट अथवा धर्मप्रचार की दृष्टि से यहाँ जमे। व्यापारिक संबंध तो अरब और भारत का ईसा के एक हज़ार वर्ष पूर्व से चला आता रहा है। हिंदी को अपनाने वाले खुसरो, कबीर, जायसी, रहीम, रसखान आदि अनेक मुसलमान कवि हुए। मुसलमान फ़क़ीरों तथा कवियों के साहित्य-द्वारा राष्ट्र में वेदान्त तथा औपनिषदिक अद्वैत-वाद से मिलता-जुलता निर्गुण एकेश्वरवाद का

प्रचार हुआ, जिसे भारतीय अद्वैतवाद ही का मुसलमानी संस्करण अथवा रूपांतर समझना चाहिये।'[1] सामाजिक क्षेत्र में भी इन फ़कीरों और कवियों ने हिन्दू-मुसलमानों में एकता स्थापित करनी चाही और अपनी उन भावनाओं को, जिन में वह हिन्दू-मुसलमानों की ऊपरी विषमताओं को हटाकर जनता को मनुष्य का असली रूप दिखाना चाहते थे, जनवाणी हिंदी द्वारा ही व्यक्त कर सके। हिंदी के प्रवाह-सौंदर्य से मुग्ध कबीर ने कहा भी था—"संस्कीरत है कूप-जल, भाषा बहता नीर", आडंबर और असत्य के विरोधी सत्य-प्रचारक कबीर ने मुसलमानों को बतलाया—

"काँकर पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाय,
ता पर मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय।"

और हिन्दुओं को सुझाया—

"दुनिया ऐसी बावरी, पाथर पूजन जाय,
घर की चकिया कोई न पूजे, जेहि का पीसा खाय"

इस प्रकार के विचारों से एक जागृति, एक चेतना समाज में उत्पन्न हुई; राष्ट्र आगे बढ़ा और परिवर्तित परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में भक्ति-धारा का प्रभाव फूट आया।

प्रत्येक नया युग पुराने युग के दोषों के कारण प्रकाश में आने का प्रयत्न करता है। जब तुलसी का उदय हुआ तो साहित्य द्वारा समाज की धार्मिक विचारधाराओं में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। समाज के गुण-दोष तुलसी के आलोक में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हुए, और तुलसी ने अपने समय की सब परिस्थितियों को समझ कर राष्ट्र को उन्नत करना चाहा। समाज के दोषों को दिखा कर तुलसी चुप नहीं हो गए, उन्होंने हिंदी भाषा द्वारा जन-साधारण के सामने एक आदर्श-मार्ग भी रखा जो उनके अनुसार निस्वार्थ विवेकयुक्त 'श्रुति-सम्मत हरि-भक्त' पथ ही था। इस समय हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर थी। और तुलसी के मर्यादा-पुरुषोत्तम राम एक आदर्श के रूप में राष्ट्र-निर्माण करने आए।

फिर साहित्य की धारा के साथ ही, भक्तिकाल की इस पराकाष्ठा से, राष्ट्र विलासिता के अंधकारमय गर्त में गिरा। रीतिकाल के श्रृंगारी साहित्य ने राजा-प्रजा सभी को ज्ञानांध बना दिया और राष्ट्र अधोगति को प्राप्त हुआ।

गद्यकाल (आधुनिक काल) में फिर हिंदी साहित्य ऊपर उठा और प्रसाद, गुप्त

---

[1] इस विषय के विस्तार के लिए काक की लिखी पुस्तक 'इंडिया इन ग्रीस' देखिए।

तथा प्रेमचंद आदि उसको आगे ले जाने वाले—अगुवा—बने। समाज की सारी विषमताओं—जो अनेक कारणों से भारत में आ गई थीं—को इन नेताओं ने पहिचाना और उन्हीं को साहित्य के द्वारा परिष्कृत कर भारत को फिर से आशा की झलक दिखाई।

पर इससे पहले कि साहित्य द्वारा उन नेताओं के राष्ट्र-निर्माण करने के विषय पर विचार किया जाय यह समझ लेना आवश्यक है कि अंग्रेज़ों के आने से राष्ट्र की क्या दशा हुई। अंग्रेजों के आने से भारत में दो विचार-धाराओं का आगमन हुआ, विशेष कर उस समय जब भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनाई गई। एक तो वह धारा थी जो पूर्ण रूप से पाश्चात्य भाषा तथा साहित्य के साथ साथ उनकी वेश-भूषा आदि को भी अपनाना चाहती थी और दूसरी वह जो भारतीय संस्कृति, रहन-सहन तथा सभ्यता को ही यहाँ रखना चाहती थी। अँग्रेजी भाषा के एक बड़े पक्षपाती राजा राममोहन राय हुए और भारतीय सभ्यता की ओर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने जनता को आकर्षित किया। किसी भी स्वतंत्र देश में किसी और देश की भाषा को अपनाना हास्यास्पद जान पड़ता है, परन्तु दुर्भाग्यवश भारत ने विदेशी भाषा को अपनाना अपना गौरव समझा और हिन्दी ने वह घुमाव लिया कि उसके साहित्य पर विदेशी भाषा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा। पराधीन देश होने के कारण भारत के मत्थे अंग्रेजी भाषा एक प्रकार से मढ़ दी गई; उसके अध्ययन से जो लाभ हुआ वह तो हुआ, परन्तु उसने भारतवासियों को ऐसा जकड़ा कि वह उसके अध्ययन के साथ ही साथ 'साहब' हो गए और विदेशी का अंधानुकरण कर अपनी सुंदर से सुंदर वस्तुओं को बुरा समझने लगे। अंग्रेजी वेष धारण करना, अंग्रेजों की भाषा बोलना और उनकी सभ्यता के अनुसार समाज में प्रवेश करना 'फैशन' हो गया। राष्ट्रीय सभ्यता को इस आचरण से जो धक्का लगा उसको देखने वाले इने गिने 'मूर्ख' कुछ भी न कर सके। भारतवासियों की नींद गहरी थी, वह शीघ्र न टूटी। वे रात-दिन कार्य-क्षेत्र में ही नहीं सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में भी शासक-वर्ग का अनुकरण करते रहे और उनके नचाने वाले उन्हें आनन्द से नचाते रहे। यह पाश्चात्य रंग ईसाइयों पर और भी अधिक चढ़ा और इस प्रकार अंग्रेजों को जड़ जमाने के लिये अच्छा आधार मिल गया। इस समाज ने पाश्चात्य अंधानुकरण क्यों अधिक किया, यह एक अवांतर विषय है, जिसका स्वतंत्र ही विवेचन अच्छा है। यहाँ पर भारतीय ईसाइयों का पूर्वोक्त वर्ग, जिसने धर्म को विदेशी कपड़ों आदि में ही देखा, अपने हृदय में नहीं, यह न समझ पाया कि ईश्वर को भारतीय कपड़े भी अच्छे लगते हैं और वह हिन्दुस्तानी भाषा भी समझता है। इतना ही नहीं, हिन्दू समाज पर भी यह रंग चढ़ा। तब—

"छूमंतर हिन्दुत्व हो गया कोट-पैंट-बूटों में मिल कर,
फिर भारत को स्वराज्य का मंतर आया तो क्या आया।"

कहने का मतलब यह है कि भारत पतन की ओर बढ़ा, पर उसके निवासियों को पता न चल पाया। पर जब सब ओर अंधकार सा छा गया, तो साहित्य ने आशा के तारे जगमगाए, जो लेखकों, नाटककारों और कवियों आदि के रूप में प्रकट हुए। प्रसाद, गुप्त तथा प्रेमचंद का आलोक सब से अधिक फैला। राष्ट्र की भावनाओं से पूर्ण ये लेखक तथा कवि साहित्य द्वारा समाज को उसकी गहरी नींद से जगाने में समर्थ हुए, प्रेमचन्द ने वास्तविक भारत (जो गाँवों में है) की आवश्यकताओं को पहिचाना, और गाँवों की एक एक समस्या का सूक्ष्म चित्रण करके हमें अपनी कमियों को पूरा करने के लिए उत्तेजित किया। प्रसाद ने अपनी रचनाओं में प्राचीन गौरव के भव्य चित्रों सहित जीवन के सभी क्षेत्रों की विषमताओं की ओर हमारी दृष्टि खींची और हमें साहित्य के द्वारा ऐसे चरित्रों से परिचित कराया जो अपने पाँव पर स्वयं कुल्हाड़ी मार कर गर्व करते हैं। साथ ही ऐसे भी चरित्र उन्होंने दिखाए हैं जो कर्तव्य की बलि-वेदी पर राष्ट्र के हित के लिये, मानवता की शांति-रक्षा के लिये अपने स्वार्थों को छोड़ प्राणों तक को उत्सर्ग करने में हिचकते नहीं, वरन् बड़ी गौरवपूर्ण शांति और प्रसन्नता से उस त्याग की ओर अग्रसर होते हैं। जो भारतीय संस्कृति के मूल में सब से बड़ी विशेषता बन कर रही है। गुप्त जी ने अपनी भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय भावनाओं को, सरल एवं भावपूर्ण काव्य रचनाओं द्वारा, भारत के प्रत्येक हिन्दी-भाषी व्यक्ति तक पहुँचा दिया।

सभी कलाकारों ने इस प्रकार जीवन में अनेक द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व को दिखाकर, समाज की भावनाओं को साहित्य का रूप देकर राष्ट्र के निर्माण में सहायता की और आज देश के न जाने कितने प्राणी हिन्दी-साहित्य द्वारा जनता की सोई हुई भावनाओं को जगाकर कर्तव्य-पथ पर खड़े हैं, और राष्ट्र का निर्माण करने के लिये अग्रसर हैं। केवल राजनीतिक उन्नति ही नहीं, वरन् धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक स्वतंत्रता उनका लक्ष्य है। एक बार यदि निश्चय हो गया और यह वीर आगे बढ़े तो इनको विश्व की कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती और उद्देश्यपूर्ति अनिवार्य है।

समय भी बढ़ता चला जा रहा है। अतीत में हिन्दी ने जो कुछ किया वह तो गौरव का विषय है ही, पर हिन्दी द्वारा देश का भविष्य भी उज्ज्वल होगा, यह निश्चित है। अनेक विघ्नबाधाओं के होने पर भी जब हिन्दी देश के रंग-मंच पर इतना अधिक भाग ले सकी है, तो यह निश्चय है कि यदि वह राष्ट्र-भाषा हो गई, तो वह भारतीय इतिहास के पूर्ण नाटक में अत्यन्त सफल सूत्रधार भी बन सकेगी।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा बनने का अन्य भाषाओं से कहीं अधिक अधिकार रखती है। राष्ट्र-भाषा होने के लिये उसमें सभी गुण विद्यमान हैं। माना, भारत में कई भाषाएँ प्रचलित हैं जिन के कारण किसी एक को राष्ट्र-भाषा नियत करना कठिन है, पर जब विदेशी भाषा अंग्रेज़ी हमारी राष्ट्रीय-भाषा बनने का दावा कर सकती है, तब अपनी बिखरी शक्तियों को साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकरूपता की ओर ले जा सकने वाली हिन्दी क्यों नहीं राष्ट्र-भाषा बन सकती? अन्य भारतीय भाषाओं में भी संपन्न साहित्य है। किंतु उन भाषाओं में से किसी का भी उतना व्यापक क्षेत्र भारत में नहीं है, जितना हिन्दी का। पुनः हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बन जाने से हिन्दी उन भाषाओं के स्वाभाविक विकास में बाधक नहीं वरन् साधक ही सिद्ध होगी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अन्य भारतीय भाषाओं को राष्ट्रीय-भाषा के केन्द्र में इस प्रकार सजाने की बात कही थी जिस प्रकार कमल की पंखड़ियाँ कमल के केन्द्र से संबंध रखती हुई भी स्वतंत्र सत्ता और शोभा रखती हैं; किन्तु सारे फूल की एकच्छत्र शोभा उनके केन्द्र से समन्वित होने से ही अधिक हो पाती है। हिंदी का भी यही संबंध अन्य भारतीय भाषाओं के साथ परंपरा से रहा है। हिन्दी को किसी अन्य अकृत्रिम रूप से ढालने का प्रयत्न अत्याचार ही नहीं, पाप है। कृत्रिमता कभी भी किसी का स्वाभाविक विकास नहीं होने देती। इसलिये हिंदी को अपने स्वाभाविक विकास के साथ चलने दें, तो उसकी नैसर्गिक शोभा भी बढ़ेगी और समाज तथा राष्ट्र की सभी चेतनाओं तथा विचारधाराओं का पूर्ण सामंजस्य भी उसमें स्वच्छन्द रूप से हो सकेगा। उसके रूप को विकृत कर हम अपनी प्राचीन संपत्ति से ही हाथ नहीं धो बैठेंगे, वरन् वर्तमान और भविष्य की अमूल्य राशियों का भी स्थिर संचय न हो सकेगा, और तब व्यामोह से जगने पर अपनी भूल का पता जब लगेगा तब हाथ मलकर पछताने के अतिरिक्त कुछ हाथ न आवेगा।

कार्यसमिति की ग्यारहवीं बैठक

कार्यसमिति की बैठक रविवार; १६ फाल्गुन, ता० २८ फरवरी १९४३ को सायंकाल ४ बजे से सम्मेलन के संग्रहालय भवन में हुई। निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे:—

सर्वश्री १. अमरनाथ झा; २. दयाशंकर दुबे; ३. अमरनाथ शुक्ल; ४. रामनाथ 'सुमन'; ५. उदयनरायण तिवारी; ६. रमाशङ्कर उपाध्याय; ७. रामचंद्र टंडन ८. लक्ष्मीनारायण दीक्षित; ९. चन्द्रशेखर वाजपेयी; १०. रामलखन शुक्ल।

१. नियमानुसार श्री अमरनाथ जी झा ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

पिछली बैठक की कार्यवाही पढ़ी गई और स्वीकृत हुई।

२. श्री प्रबन्ध मंत्री जी ने पंजाब प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री श्री वशिष्ठ शर्मा का सहायता सम्बन्धी पत्र विचारार्थ उपस्थित किया और बताया कि वे पंजाब में प्रचार कार्य करने के लिए दो प्रचारक ५०)-५०) मासिक पर चार माह के लिए रखना चाहते हैं। श्री शर्मा जी का अनुरोध है कि इस कार्य में जो ४००) व्यय होगा उसका भार सम्मेलन स्वीकार करे।

सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि सम्मेलन पंजाब-काश्मीर प्रचार में २०००) वार्षिक खर्च कर रहा है तथा इसके अतिरिक्त अबोहर विद्यालय को भी इस वर्ष १००) सहायता-स्वरूप देना निश्चय हुआ है; अतएव अनुमान-पत्र में प्रचार-कार्य के लिए अतिरिक्त पद न होने के कारण सम्मेलन सहायता देने में असमर्थ है।

३. श्री प्रबन्ध मंत्री जी ने नियम ३६ (क) के अनुसार प्रतिनिधियों के चुनाव का विषय उपस्थित किया और बताया कि ११ माघ १९९९ की स्थायी-समिति ने कार्य-समिति को प्रतिनिधि चुनने का आदेश दिया है। सर्वसम्मति से प्रतिनिधि चुने गए।

४. श्री प्रबन्ध मंत्री जी ने श्री इन्द्रसिंह चक्रवर्ती, मंत्री स्वागत समिति, भेणी साहब का पत्र विचारार्थ उपस्थित किया और बतलाया कि वे चाहते हैं कि अधिवेशन की तिथियाँ ईस्टर से बदल कर होली पर कर दी जायं। २४, २५, २६ अप्रैल को गेहूँ की कटाई होती है, अतएव अधिवेशन का होना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री रामनाथ सुमन जी का प्रस्ताव आया है कि तिथियाँ न बदली जायँ। इस सम्बन्ध में आए हुए श्री किशोरीदास वाजपेयी तथा स्वामी केशवानन्दजी के पत्र भी पढ़े गए। सर्वसम्मति से निम्नांकित प्रस्ताव स्वीकार हुआ—

कार्य समिति स्थायी समिति से सिफारिश करती है कि सम्मेलन की तिथियाँ पूर्ववत् रहने दे। भेणी साहब में २४, २५, २६ अप्रैल को अधिवेशन करना संभव नहीं है, अतएव अधिवेशन उक्त तिथियों पर प्रयाग में हो।

५. विशेष सदस्य—श्री शारंगधर शर्मा जी पहलवान, बम्बई, साधारण सदस्य—श्री कैकेयी नंदन सहाय बरेली। सर्वसम्मति से उपर्युक्त सज्जनों की सदस्यता स्वीकार की गई।

६. श्री प्रबंध मन्त्री जी ने बतलाया कि शब्द संचय के लिए दो लेखकों की नियुक्ति तीन माह के लिए की गई थी। २८ फरवरी को नियुक्ति समाप्त हो रही है। श्री साहित्य मंत्री जी की सिफारिश है कि इन लेखकों की नियुक्ति तीन-तीन माह और बढ़ा दी जाय।

७. श्री प्रबन्ध मन्त्री जी ने २८-२-४३ की परीक्षा-समिति द्वारा स्वीकृत यह प्रस्ताव विचारार्थ उपस्थित किया—

परीक्षा समिति कार्य समिति से सिफ़ारिश करती है कि वह एक डेपुटेशन सम्मेलन की वैद्यक परीक्षाओं के संबंध में श्री पन्नालाल जी के पास ले जाय, और उन्हें परिस्थिति का दिग्दर्शन कराये।

सर्वसम्मति से निश्चित हुआ कि श्री सभापति जी डा० पन्नालाल को पत्र लिखें तथा उनको सम्मेलन कार्यालय में आमन्त्रित करें।

रामलखन शुक्ल, प्रबन्ध मंत्री

सिक्किम में हिंदी-प्रचार

राष्ट्रभाषा प्रेमी सज्जनों को यह समाचार जानकर हर्ष होगा कि यहाँ गत वर्ष से हिन्दी का प्रचार हो रहा है। इस वर्ष एक हिन्दी पुस्तकालय तथा वाचनालय का भी प्रबन्ध किया गया है। परन्तु यह प्रचार कार्य तभी सफल हो सकता है जब सर्व साधारण इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सहायता प्रदान करें। हमारी विनम्र प्रार्थना है कि राष्ट्रभाषा-प्रेमीगण यथाशक्ति हमें अवश्य प्रोत्साहित करें। नयी-पुरानी पुस्तकें समाचार पत्र, पुरानी फाइलें आदि सभी हम धन्यवादपूर्वक ग्रहण करेंगे।

शशिनाथ चौधरी,
मंत्री हिंदी-भवन, पो० गैंटोक, सिक्किम

गोपाल कृषि-पुरस्कार

राजपूताने की खेती की उन्नति के समस्त अंगों पर उपयोगी सिद्धांतों से पूर्ण सर्वोत्तम ग्रंथ लिखने वाले को बीकानेर राज्य साहित्य सम्मेलन की ओर से श्रीमान् सेठ रामगोपाल जी मोहता द्वारा प्रदत्त ५००) का गोपाल कृषि पुरस्कार दिया जायगा। ग्रंथ ३० अक्टूबर सन् १९४३ तक कार्यालय में आ जाना चाहिये। अप्रकाशित ग्रंथ भी भेजे जा सकते हैं। विशेष जानकारी के लिए सम्मेलन कार्यालय, सरदारशहर से पत्र व्यवहार करें।

आचार्य ओङ्कारनाथ शास्त्री
प्रधान मंत्री बी० रा० सा० सम्मेलन सरदारशहर

समालोचना

विद्रोही । संपादक—विद्याभूषण पंडित सोहन शर्मा 'विशारद', प्रकाशक—प्रकाशमन्दिर, काशी आर० एस० (बनारस) । मूल्य १।)

इस पुस्तक में मध्यप्रांत के कुछ प्रमुख कहानी-लेखकों की चुनी हुई कहानियाँ संकलित हैं। संग्रह में भावों और शैली की विविधता का ध्यान रखा गया है। प्रारंभ में प्रत्येक लेखक का संक्षिप्त परिचय दिया है।

सब कहानियाँ पढ़ चुकने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस संग्रह के अधिकांश कहानी लेखक वास्तविक जीवन की मिट्टी के स्पर्श से बहुत दूर रहकर एक ऐसी भावुकता की हवाई उड़ान भरते हैं, जिसका महत्व साबुन के बुलबुलों से अधिक नहीं है। वे लोग ऐसी खयाली तरंगों में डूबना-उतराना पसंद करते हैं जिनका संबंध न जीवित लोक से है न मृत लोक से।

उदाहरण के लिये पहली कहानी 'कलाकार' को लीजिए। इस कहानी के ग्रामीण नायक श्रीनाथ को एक महान शिल्पकार के रूप में दिखाया गया है जो पत्थरों पर आश्चर्यजनक कलामूर्तियों को खोदकर तैयार करता है। एक लड़की से उसका प्रेम हो जाता है। पर सामाजिक विषमता के कारण इन दोनों का विवाह नहीं हो पाता। नायिका का विवाह एक ज़मींदार से होता है। फलस्वरूप 'महान् शिल्पकार' का सारा जीवन अपनी प्रेयसी के वियोग की गहरी वेदना से रंग जाता है। उसने एक पत्थर पर अपनी उसी प्रेमिका की मूर्ति खोदना आरंभ कर दिया; मूर्ति तैयार हो जाने पर प्रतिदिन अपने आँसुओं से उस मूर्ति को तर करके, आँसुओं के सूख जाने पर उनकी चिकनाई से उसे पालिश करता। मूर्ति को चट्टान से काटकर उसने एक पेड़के सहारे खड़ा कर दिया, और एक दिन उसी मूर्ति के पैरों के पास उसने प्राण छोड़ दिए। कुछ वर्षों बाद कलकत्ते की एक प्रदर्शनी में वह मूर्ति प्रदर्शनार्थ और विक्रियार्थ रखी गई। संयोग से श्रीनाथ की वही प्रेमिका, जिसकी वह मूर्ति थी, अपने पति के साथ प्रदर्शनी देखने गई। वहाँ उस मूर्ति को देखकर उसकी कुछ ऐसी विचित्र दशा हुई कि वह उसी दम वहीं पर मृत अवस्था में नीचे गिर पड़ी।

सस्ती भावुकता और निराधार हवाई उड़ान की भी एक सीमा होती है। आश्चर्य है कि कठोर-वास्तविकता के इस ज़माने में भी हमारे तरुण कहानी-लेखक गण इस प्रकार के अलौकिक प्रेमोन्माद और अघटनीय घटनाओं से पूर्ण, जीवन की मार्मिकता से भागनेवाली कहानियों की ओर रुचि रखते हैं। दूसरी कहानी 'प्रेम की

समाधि' भी बहुत कुछ इसी ढंग की है, जीवन के किसी आधार के बिना साबुन घुले हुए पानी के 'टब' के ऊपर तैरनी वाली एक ओछी भावुकतापूर्ण प्रेम कथा। अन्य कहानियाँ इन दो कहानियों से अधिक सुसंस्कृत नहीं हैं।

हमारा ऐसा विश्वास है कि जिन लेखकों की कहानियाँ इस संग्रह में संकलित हुई हैं केवल उन्हीं तक मध्यप्रान्त के 'दिग्गज' साहित्यिकों की संख्या समाप्त नहीं हो जाती होगी, क्योंकि इन कहानियों का आदर्श बहुत ही नीचा है। हम विनम्रतापूर्वक मध्यप्रान्तीय तरुण कहानी लेखकों से यह प्रार्थना करते हैं कि वे सस्ती भावुकता की माया त्याग कर वास्तविक जीवन की मार्मिकता की ओर ध्यान दें। सिनेमा-जगत के व्यामोह में न पड़कर जीवन की सच्ची और गहरी अनुभूतियों को कला का रूप देने का प्रयत्न करें। उनके भीतर कला के बीज वर्तमान अवश्य हैं, पर उन बीजों के पोषण का ढंग हमें तनिक भी नहीं जँचता।

द० अ०

राजस्थान के रमणी-रत्न। लेखक-श्री जगदीशप्रसाद माथुर, 'दीपक', प्रकाशक—'मीरा' कार्यालय, अजमेर, मूल्य १)

इस पुस्तक में राजस्थान के इन नारी-रत्नों के चरित्रों को कहानियों का रूप दिया गया है—करणी माता, पल्लू सती, गेंदाबाई, मानसिंह की मँझली रानी, करमैती, जोधा जी को उपदेश देनेवाली जाटनी, सीसोदणी कुंवराणी, मीनल देवी, सती राणक देवी, कवयित्री भीमा चारणी, सती कोड़मदे, पतिव्रता कलावती, आदि-आदि। इनमें दो-एक को छोड़कर शेष सब रमणियों को ऐतिहासिक ख्याति प्राप्त नहीं है। पर कीर्ति का गौरव प्राप्त न होने पर भी उनके चरित्र बहुत उज्ज्वल हैं, और उन्हें प्रकाश में लाकर लेखक ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

क्षत्रज्ञ

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

संवत् २००० के पुरस्कार

उपर्युक्त पुस्तकें प्राप्त होने पर संवत् २००० में सम्मेलन की ओर से निम्नलिखित पुरस्कार दिए जायँगे :—

१. *मंगलाप्रसाद पारितोषिक*

१२००)—व्यावहारिक-विज्ञान [वैद्यक, गृह-निर्माण, कृषि-शास्त्र, यंत्र-शास्त्र आदि] विषयक पुस्तक पर।

२. *सेकसरिया महिला पारितोषिक*

५००)—महिला-रचित किसी मौलिक रचना पर।

३. *मुरारका पारितोषिक*

५००)—समाजवाद-विषयक पुस्तक पर।

४. *जैन पारितोषिक*

५००)—ग्रामोद्योग-विषयक पुस्तक पर।

५. *राधामोहन गोकुल जी पुरस्कार*

२५०)—समाज-सुधार विषयक पुस्तक पर।

६. *नारंग पुरस्कार*

१००)—भारतीय संस्कृति-विषयक कविता-पुस्तक पर [केवल पंजाब निवासी हिन्दी कवि को]।

७. *गोपाल पुरस्कार*

५००)—किसी खोजपूर्ण मौलिक अद्वैत सिद्धांत के आधार पर लिखी हुई आचार-शास्त्र रचना पर।

उपर्युक्त सभी पुरस्कारों के लिए केवल जीवित लेखकों की रचनाओं पर विचार किया जायगा। मंगलाप्रसाद पारितोषिक के लिए पुस्तकों की आठ प्रतियाँ तथा अन्य सभी पुरस्कारों के लिए सात-सात प्रतियाँ आनी चाहिएँ। सभी पुरस्कारों के लिए पुस्तकें ३१ वैशाख (सौर) सं० २००० तक सम्मेलन कार्यालय में अवश्य पहुँच जानी चाहिए। पुरस्कारों की अलग-अलग नियमावलियाँ सम्मेलन कार्यालय से मँगाई जा सकती हैं।

रामप्रसाद त्रिपाठी
एम० ए०, डी० एस-सी०,
प्रधान मंत्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकें

(१) सुलभ साहित्यमाला

१ भारत-गीत ≡)
२ राष्ट्रभाषा ॥)
३ शिवाबावनी ≡)
४ पद्मावत पूर्वार्द्ध १), ११)
५ सूरदास की विनयपत्रिका ≡)
६ नवीन पद्यसंग्रह ।॥)
७ विहारी-संग्रह ≡)
८ सती कथाकी ॥)
९ हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव ॥=)
१० ग्रामों का आर्थिक पुनरुद्धार १)

(२) साधारण पुस्तकमाला

१ अकबर की राज्यव्यवस्था १)

(३) वैज्ञानिक पुस्तकमाला

१ सरल शरीर-विज्ञान ॥), ।॥)
२ प्रारम्भिक रसायन १)
३ सृष्टि की कथा १)

(४) बाल-साहित्य माला

१ बाल नाटक-माला ।)
२ बाल-कथा भाग २ ।=)
३ बाल विभूति ≡)
४ वीर पुत्रियाँ ।=)

(५) नवीन पुस्तकें

१ सरल नागरिक शास्त्र १)
२ कृषि प्रवेशिका १)
३ विकास (नाटक) ॥=)
४ हिंदू-राज्य शास्त्र ३॥)
५ कौटिल्य की शासन-पद्धति १।=)
६ गावों की समस्यायें १)
७ मीराँबाई की पदावली २॥)
८ भट्ट निबंधावली १)
९ बंगला-साहित्य की कथा १)
१० [illegible]पाल वध ३)
११ ऐतिहासिक कथायें ।॥)
१२ दमयन्ती स्वयंवर ॥)

१—मैथिली लोकगीत—रामइक़बालसिंह 'राकेश', भूमिका लेखक—पण्डित अमरनाथ झा ३)
२—गोरखबानी—डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ३)
३—दीवाली और होली—(कहानी संग्रह) श्री इलाचन्द्र जोशी १॥)
४—महावंश—भदन्त आनन्द कौसल्यायन ३)
५—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ३॥)
६—स्त्री का हृदय—(एकांकी नाटक) श्री उदयशंकर भट्ट १॥)
७—राजस्थानी लोकगीत—स्व० सूर्यकरण पारीक ३)
८—सामान्य भाषाविज्ञान—डा० बाबूराम सक्सेना
९—काव्यप्रकाश—सम्मटाचार्य, अनुवादक स्व० हरिमंगल मिश्र ६)

जातक

[प्रथम तथा द्वितीय खण्ड]

अनुवादक : भदंत आनन्द कौसल्यायन

इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् पं० जयचन्द्र विद्यालंकार का कथन है कि "विश्व के वाङ्मय में 'जातक' जन-साधारण की सब से पुरानी कहानियाँ हैं; मनोरंजकता, सुरुचि, सरलता, आडम्बरहीन सौन्दर्य और शिक्षाप्रद होने में उनका मुक़ाबला नहीं हो सकता। वे बच्चों के लिये सरल और आकर्षक, जवानों और बूढ़ों के लिये भी रुचिकर और विद्वानों के लिये प्राचीन भारत के जीवन का जीता-जागता चित्रण करने के कारण अत्यन्त मूल्यवान हैं।"

प्रथम खंड, पृष्ठ संख्या ४४०—४९; डिमाई साइज़; सजिल्द मूल्य ४)
द्वितीय खंड, पृष्ठ संख्या ४६०—२४ डिमाई साइज़; सजिल्द मूल्य ४)

'आधुनिक हिन्दी कवि' माला

आधुनिक काल के श्रेष्ठ कवियों द्वारा अपनी सर्वोत्तम रचनाओं का संग्रह इस माला के अन्तर्गत छपे हैं। पुस्तकों के प्रारंभ में कवियों ने अपनी कविताओं की विचारधारा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। कवियों के पेन्सिल स्केच, तथा हस्तलिपियाँ भी साथ हैं।

१. श्री महादेवी वर्मा

२. श्री सुमित्रानन्दन पंत   ३. श्री रामकुमार वर्मा

४. श्री [illegible] सिंह

प्रत्येक का मूल्य १॥)

मिलने का पता :

साहित्य मंत्री—हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक— मातप्रसाद घिल्डियाल, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।
मुद्रक— श्रीगिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग।